Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. XII, Issue No. 23, October-2016, ISSN 2230-7540

गीता में योग की संकल्पना

Gautam Tenkale*

Assistant Professor, Department of Philosophy, Sathaye College, Vile Parle, Maharashtra

सार – ***महर्षि पतंजलि द्वारा लिखित योग सूत्र में चार पाद (अध्याय) और*** 195 ***सूत्र हैं। पतंजलि का योगदर्शन, समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादों या भागों में विभक्त है।***

पतंजलि योग दर्शन का स्थान भारतीय षड् आस्तिक दर्शनों में महत्वपूर्ण है।- पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को चंचल होने से रोकना (चित्तवृत्तिनिरोधः) ही योग है। अर्थात मन को इधर-उधर भटकने न देना, केवल एक ही वस्तु में स्थिर रखना ही योग है।

----------X----------

"चित्तवृत्ति निरोध को योग मानकर यम, नियम, आसन आदि योग का मूल सिद्धांत उपस्थित किये गये हैं। प्रत्यक्ष रूप में हठयोग, राजयोग और ज्ञानयोग तीनों का मौलिक यहाँ मिल जाता है। इस पर भी अनेक भाष्य लिखे गये हैं। आसन, प्राणायाम, समाधि आदि विवेचना और व्याख्या की प्रेरणा लेकर बहुत से स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना हुई। योग दर्शनकार पतंजलि ने आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन और समर्थन किया है। उन्होंने भी वही पचीस तत्व माने हैं, जो सांख्यकार ने माने हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन्होंने कपिल की अपेक्षा एक और छब्बीसवाँ तत्व 'पुरुषविशेष' या ईश्वर भी माना है-[1]

भगवद्गीत और योगदर्शन में बहुत सारी समानता है। 'गीता' भी एक योगशास्त्र ही है। इसके सभी अध्यायों में योग की विस्तृत चर्चा मिलती है।

गीता के दूसरे अध्याय में ही योग की एक अन्य परिभाषा देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

"योग: कर्मसु कौशलम्"। गीता 2/50

इस कथन का अभिप्राय है फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। कर्म करते हुए यदि कत्ता कर्म में आसक्त हो गया तो वह कर्मकौशल नहीं कहलाता है। कत्ता की कुशलता तो यह है कि कर्म करके उसको वहीं छ ड़ दिया जाये। हानि और लाभ, जय अथवा पराजय, कार्य-सिद्धि या असिद्धि के विषय में चिन्ता ही न की जाये। कर्म करते हुए यदि कत्ता उस कर्म का दास होकर रह गया तो वह कत्ता का अस्वातन्त्रय हुआ। कत्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है।

योग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिभाषा देते हुए गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- मनुष्य जीवन पर्यन्त दुःखों से संयोग बना रहता है। दुःखों के इसी संयोग का पूर्णतः वियोग हो जाना, दुःखों की सदा के लिए समाप्ति हो जाना ही योग है,

"दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम।" गीता 6/23

क्योंकि जब दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो वे पुनः उत्पन्न नहीं होते।

गीता में योग साधक के लिए विभिन्न योगमार्गों का वर्णन किया गया है, जिसके अनुरूप प्रत्येक मनुष्य कोई एक मार्ग को अपनाकर परमलक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है।[2]

गीता में योग शब्द को अनेक अर्थ में प्रयोग किया गया है, परन्तु मुख्य रूप से गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इन तीन योग मार्गों का विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है।

समग्र ज्ञान जिससे जीव परमपद् मोक्ष को प्राप्त कर सके। इसलिए मनुष्य को आत्मा, प्रकृति एवं ईश्वर को जानना आवश्यक है जिसे जानकर मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इसी ज्ञानयोग की पुष्टि के लिए गीता कर्मयोग का भी उपदेश देती है, क्योंकि निष्काम भाव से कर्म करने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। तभी उस ज्ञान से परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

www.ignited.in

ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के लिए भक्ति का होना भी आवश्यक है, क्योंकि भक्ति के बिना निष्काम कर्म नहीं हो सकता। जब साधक भक्तियोग के माध्यम से अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देता है तो उसकी सांसारिक पदार्थों में आसक्ति समाप्त हो जाती है। तभी परमात्मा को जान पाता है।

पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग माना। स्पष्ट है कि योग केवल संन्यासियों का विषय-क्षेत्र नहीं है, हर संसारी व्यक्ति भी योगी हो सकता है। वास्तव में, योग हमारे दैनिक जीवन को शारीरिक और मानसिक ही नहीं, हार्दिक और आत्मिक स्तर पर भी प्रभावित करने वाली विधा है।

गीता में योग की परिभाषा योगःकर्मसु कौशलम् (2-50) की गयी है। दूसरी परिभाषा समत्वं योग उच्यते (2-48) है। कर्म की कुशलता और समता को इन परिभाषाओं में योग बताया गया है। पातंजलि योग दर्शन में योगश्चिय वृत्ति निरोधः (1-1) चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। इन परिभाषाओं पर विचार करने से योग कोई ऐसी रहस्यमय या अतिवादी वस्तु नही रह जाती कि जिसका उपयोग सवर्साधारण द्वारा न हो सके। दो वस्तुओं के मिलने को योग कहते हैं। पृथकता वियोग है और सम्मिलन योग है। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ना योग होता है।

अर्थ

हिन्दू तत्त्व ज्ञान और हिन्दू जीवन में योग शब्द सर्वत्र व्यवहृत है। श्रीमदगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में भगवान् योगेश्वर कहे गये हैं। जिन मंगलमय शब्दों में भगवान् का वर्णन किया जा सकता है. ऐसे सब शब्द गीता के दसवें अध्याय में अर्जुन के परं ब्रहम परं धाम आदि भगवदावाहन में बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से एकत्र हो आये हैं इस आवाहन स्तुति से अभिक उदात या आकर्षक स्तुति सम्पूर्ण साहित्य भर में और कहीं भी नहीं है। इस स्तुति का जो-जो कुछ अर्थ है, इससे जो-जो कुछ सूचित और ध्वनित होता है, वह सब योगेश्वर शब्द में आ जाता है गीता के इस योगेश्वर शब्द की व्याख्या करना जितना कठिन है, उतना ही गीता का योग क्या है- यह बतलाना कठिन है। दोनों ही काम कठिन ही नहीं, असम्भव है। तथापि दोनों को जानने का यत्न करना होगा, इसलिए नहीं कि यह प्रयास सफल होगा, बल्कि इसलिए कि इस प्रयास में भी आनन्द है।

योग का अन्तरतम महत्व इस बात में है कि अनात्म की प्रकृति और गति आत्मा की प्रकृति और गति से मूलतः ही सर्वथा भिन्न है अनात्मा और आत्मा, भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं कि -

'तमः प्रकाशवद्विरूद्धा स्वभाव वाले हैं आंग्ल महाकवि वड्सवर्थ ने इस विभिन्नता को, एक-दूसरे ही ढंग से, अपने ही मजेदार तरीके से प्रकट किया है। उनकी उस कविता का भावार्थ यह है कि 'पृथ्वी अपनी गोद अपने ही आनन्दों से भरती है, वत्स के प्रति उसकी उत्कण्ठा उसके अपने स्वभाव के अनुरूप होती है और उसमें एक प्रकार का मातृभाव ही होता है- कोई अनुचित हेतु नहीं। यह धरती अपने इस मानवरूप पोष्य पुत्र को, जैसे भी बनता है, पालती-पोसती है और इस तरह उस राजप्रासाद को जहाँ से कि वह आया और उसके सुखों को गुला देती है। कवि फिर आगे कहते हैं- हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा और विस्मृति है। हमारी आत्मा हमारा जीवन-नक्षत्र जो हमारे साथ ऊपर उठता है, किसी अन्य स्थान से चला है और बड़ी दूर से आ रहा है।' अस्तु।

इस वैषयिक जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है। क्षणभंगुरता ही उसका स्वरूप है और अतृप्ति सदा उसके पीछे लगी रहती है। सुख के ठीक मध्य तक में दुःख का विष-विन्दु होता ही है अथवा जैसा कि कीट्स कवि ने कहा है कि हर्ष के मन्दिर तक में विषाद का गर्भ मन्दिर होता है। श्रीमदगवद्गीता में श्री भगवान् कहते हैं -

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। [3]

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम।। [4]

जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम।। [5]

जातस्य हि धुवों मृत्युर्धुवं जन्म मृतस्यच।। [6]

परन्तु आत्मा तो अनन्त और सनातन, मुक्त स्वभाव और आनन्दस्वरूप है। इसी दिव्य प्रतिज्ञा के साथ गीता आरम्भ होती है और तब देहधारी जीवों की जो दो प्रकार की जीवनधाराएँ हैं- एक संसृति से संसृति की ओर ही ले जाने वाली निम्न धारा और दूसरी संसार के पार पहुंचाने वाली उर्ध्वगामिनी धारा- उनका और उनके कारण गुणों का और फिर गुणों के कारण स्वरूप अविद्या का विचार होता है।

गीता के छठे अध्याय के निम्नलिखित श्लोक में परम योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार भर दिया है। यथा

तं विद्याददुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोनिर्वीजचेतसा।। [7]

हमारे देहयुक्त जीवन में दुःख का संयोग होता है। इसका जो वियोग है, वही योग है। दुःख के संयोग के वियोग का ही नाम

www.ignited.in

योग है। उसी योग में आत्मा अपनी दिव्यता के साथ स्थित होती है। भगवान उस स्थिति का इस प्रकार वर्णन करते हैं-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम।

वेति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।

यं लब्या चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। [8]

वह अनुभूति अवर्णनीय आनन्द की स्थिति है। इन्द्रियों की वहाँ तक पहुँच नहीं है, केवल बुद्धि के द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है। वह परा गति है, सुख-दुःख के सर्वथा परे है।

योग शब्द युज् (समाधौ) से प्रायः साधा जाता है इसका अर्थ है मिलन या योग अर्थात् दुःख से वियोग और आनन्द के साथ योग। दार्शनिक भाष्यकार प्रायः अपनी पसन्द या प्रकृति के अनुसार गीता में किसी न किसी विशिष्ट एकदेशीय योग की ही प्रधानता बतलाते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण ने इस प्रकार का कोई एकदेशीय योग नहीं बताया है और जो योग उन्होंने बताया है वह आरम्भ में दुर्गम और क्लेशकर प्रतीत हो भी शीघ्र ही सुगम और सुखकर हो जाता है और फिर अन्त तक ऐसा ही रहता है। यही कारण है कि इस लोक में द्विविधानिष्ठा (3/3) बतलाते हुए यह भी कह देते हैं कि दोनों मार्ग एक ही स्थान को पहुंचते हैं।

साथ ही भगवान् यह भी कहते है कि कर्म की समाप्ति आत्मस्थिति में होती है-

सर्व कर्मखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। [9]

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात कुरुते तथा।। [10]

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। [11]

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः।

योगयुक्तों मुनिब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। [12]

कर्तव्य कर्म से पलायन नहीं। मन की परिपक्वता होने पर कर्म आप ही उससे छूट जायेगा। परिपक्वता ही मुख्य है यथा-

न कर्माणित्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ। [13]

भगवान् बारम्बार गीता की इस मुख्य शिक्षा पर जोर देते हैं कि भगवत्प्राप्ति के साधन का सार मर्म वह अनासक्ति और भक्ति है, जिससे कर्म नैष्कम्र्य को प्राप्त होता है यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धि के साधन है और सच्चा त्याग सङ्गत्याग और फलत्याग है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कयं पुरुषोंश्नुते। [14]

न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पों योगी भवति कश्चन।। [15]

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञ¨ दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। [16]

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेर्जुन।

सङ्ग त्यक्तवा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः।। [17]

इससे मालूम होता है कि गीता का योग मार्ग आत्म-मिलन, आत्मानुभव और आत्मरति का मार्ग है और यह सम्पूर्ण मार्ग एक ही है और वह आनन्द का मार्ग है। कर्मयोग में जो आनन्द है और संन्यास योग में जो आनन्द है उसमें कोई अन्तर नहीं है। यह अवश्य है कि 'स्वरूपे-वस्थानम्' (आत्म स्वरूप में स्थित) होना अनुभव और आनन्द की पराकाष्ठा है। गीता का यह वचन है कि कर्मयोग मार्ग में भी शान्ति और आनन्द की प्राप्ति है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियेश्चरन।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। [18]

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्मलो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। [19]

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। [20]

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम। [21]

कर्मयोग का विवेचन करते, श्रीकृष्ण ने इन शब्दों के दो और अर्थ प्रकट किये हैं। एक है 'समत् योग उच्यते सिदि-असिन्दि में सम रहना बोग है, दूसरा और 'योग कर्मसु कौशलम कर्म में जो कौशल है, वह योग है। यह कौशल क्या है? कौशल है सही

www.ignited.in

अनासक्ति और भक्ति जिनसे बन्धनकारक कर्म गोक्षकारक कर्म हो जाता है और कर्म शान बन जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. महर्षि पतंजलि योग सूत्र आलोक भाष्य, बी. के. एस. आयंगार, ओरिएंट लॉंगमन 1991
2. गीता दर्शन, स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट 2012
3. श्रीमदभगवदगीता, 5/22, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 80
4. श्रीमदभगवदगीता, 9/33, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 127
5. श्रीमदभगवदगीता, 13/8, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 170
6. श्रीमदभगवदगीता, 2/27, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 33
7. श्रीमदभगवदगीता, 6/23, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 90
8. श्रीमदभगवदगीता, 6/21-22, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 89, 90
9. श्रीमदभगवदगीता, 4/33, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 71
10. श्रीमदभगवदगीता, 4/37, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 72
11. श्रीमदभगवदगीता, 4/38, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 72
12. श्रीमदभगवदगीता, 5/6, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 76
13. योगांक, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067. पृ0 162
14. गीता, 3/4, पृ0 49
15. गीता, 6/2, पृ0 84
16. गीता, 18/5, पृ0 219
17. गीता, 18/9 पृ0 220
18. गीता, 2/64-65, पू0 44
19. गीता, 2/71, पृ0 46
20. गीता, 5/12, पृ0 77
21. गीता, 12/12, पृ0 165

Corresponding Author

Gautam Tenkale*

Assistant Professor, Department of Philosophy, Sathaye College, Vile Parle, Maharashtra